

## Chapter तेरह

### राजा रहूगण तथा जड़ भरत के बीच और आगे वार्ता

ब्राह्मण जड़ भरत राजा रहूगण पर अत्यन्त दयालु हो उठे और उसे इस जगत से छुड़ाने के लिए उन्होंने संसार रूपी जंगल ( भवाटवी ) का अलंकारिक वर्णन किया। उन्होंने बताया कि यह संसार एक विशाल जंगल के समान है, जिसमें भौतिक जीवन के संसर्ग के कारण मनुष्य उलझ जाता है। इस जंगल में लुटेरे ( छः इन्द्रियाँ ) तथा सियार, भेड़िये तथा सिंह जैसे हिंस्र पशु ( पत्नी, संतान तथा परिजन ) रहते हैं, जो परिवार के मुखिया का रक्तपान करने को सदैव आतुर रहते हैं। ये सब मिलकर इस भौतिक जगत में मनुष्य की शक्ति का शोषण करना चाहते हैं। इसी जंगल में घास से ढका हुआ एक काला छेद ( श्याम विवर ) भी है, जिसमें कोई भी गिर सकता है। जंगल में आकर और अनेक भौतिक आकर्षणों से आसक्त होकर मनुष्य अपने को इस संसार, समाज, मित्रता, प्रेम तथा परिवार से पहचानने लगता है। रास्ता भूल जाने पर और यह न जानते हुए कि किधर जाना है, पशु-पक्षियों द्वारा सताये जाने के साथ ही वह अनेक कामनाओं का शिकार हो जाता है। इस प्रकार इस जंगल में वह परिश्रम करता हुआ इधर-उधर भटकता रहता है। वह क्षणिक सुख से प्रसन्न होता है और तथाकथित दुख से दुखी होता है। वस्तुतः इस जंगल में तथाकथित सुख-दुख के कारण वह कष्ट उठाता रहता है। कभी उस पर साँप ( निद्रा ) प्रहार करता है और वह सर्पदंश से हतचेतन हो जाता है। किंकर्तव्यविमूढ़ होने से वह यह नहीं समझ पाता कि क्या करे। कभी-कभी वह अपनी पत्नी को छोड़कर दूसरी स्त्री के

प्रति आकृष्ट होकर उसके साथ प्रेम का आनन्द ले कर अपने आप को सुखी समझता है। उसे अनेक रोग, शोक तथा ग्रीष्म एवं शीत प्रताडित करते रहते हैं। इस प्रकार इस संसार रूपी जगत में भौतिक कष्ट उठाता है। सुखी बनने के उद्देश्य से जीवात्मा एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थान को जाता है, किन्तु भौतिकतावादी (विषयी) पुरुष इस संसार में कभी सुखी नहीं रहता। भौतिक कार्यकलापों में लिप्त रहने के कारण वह सदैव विक्षुब्ध रहता है। वह भूल जाता है कि एक दिन उसे मरना भी है। घोर कष्ट उठाने पर भी वह माया से मोहग्रस्त होकर भौतिक सुख के पीछे दीवाना रहता है। इस प्रकार वह भगवान् से अपने सम्बन्ध को पूर्णतः भूल जाता है।

जड़ भरत से यह सुनकर महाराज रहूगण की कृष्णभावना जागृत हो उठी और जड़ भरत की संगति से उसे लाभ पहुँचा। उसे ज्ञात हो सका कि उसका मोह भंग हो चुका है, अतः उसने अपने दुर्व्यवहार के लिए जड़ भरत से क्षमा माँगी। यह सब शुकदेव गोस्वामी ने राजा परीक्षित को कह सुनाया।

ब्राह्मण उवाच

दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो

रजस्तमःसत्त्वविभक्तकर्मदृक् ।

स एष सार्थोऽर्थपरः परिभ्रमन्

भवाटवीं याति न शर्म विन्दति ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः उवाच—ब्राह्मण जड़ भरत ने कहा; दुरत्यये—जिसको पार करना कठिन है, दुर्गम; अध्वनि—सकाम कर्मों के पथ पर ( इस जन्म में कर्म करना, इन कर्मों के आधार पर अगले जन्म में शरीर ग्रहण करना और इस प्रकार जन्म-मरण के चक्र को स्वीकार करना ); अजया—माया के द्वारा, श्रीभगवान् की बहिरंगा शक्ति; निवेशितः—सन्निविष्ट; रजः-तमः-सत्त्व-विभक्त-कर्म-दृक्—बद्ध आत्मा जो लाभप्रद कर्मों तथा उनके फलों को तुरन्त देख लेता है जो सतो, रजो तथा तमो गुणों द्वारा तीन समूहों में विभक्त है; सः—वह; एषः—यह; स-अर्थः—सकाम; अर्थ-परः—धन प्राप्ति में तुला हुआ; परिभ्रमन्—सर्वत्र घूमते हुए; भव-अटवीम्—भव नामक जंगल अर्थात् जन्म-मरण का चक्र; याति—प्रवेश करता है; न—नहीं; शर्म—सुख; विन्दति—प्राप्त करता है।

ब्रह्म-साक्षात्कार-प्राप्त जड़ भरत ने आगे कहा—हे राजा रहूगण, जीवात्मा इस संसार के दुर्लभ पथ पर घूमता रहता है और बारम्बार जन्म तथा मृत्यु स्वीकार करता है। प्रकृति के तीन गुणों ( सत्त्व, रज तथा तम ) के प्रभाव से इस संसार के प्रति आकृष्ट होकर जीवात्मा प्रकृति के जादू से केवल तीन प्रकार के फल जो शुभ, अशुभ तथा शुभाशुभ होते हैं देख पाता है। इस प्रकार वह धर्म, आर्थिक विकास, इन्द्रियतृप्ति तथा मुक्ति की अद्वैत भावना ( परमात्मा में

तादात्म्य ) के प्रति आसक्त हो जाता है। वह उस वणिक् के समान अहर्निश कठोर श्रम करता है जो कुछ सामग्री प्राप्त करने और उससे लाभ उठाने के उद्देश्य से जंगल में प्रवेश करता है। किन्तु उसे इस संसार में वास्तविक सुख उपलब्ध नहीं हो पाता।

**तात्पर्य :** यह सरलता से समझ में आता है कि इन्द्रियतृप्ति का मार्ग कितना कठिन तथा दुर्लभ्य है। इस मार्ग को न जानने के कारण मनुष्य विभिन्न देहों में पुनः पुनः जन्म धारण करता है। इससे उसे इस संसार में कष्ट उठाना पड़ता है। इस जीवन में कोई यह सोचकर भले प्रसन्न होले कि वह अमरीकी, भारतीय, अंग्रेज या जर्मन है, किन्तु अगले जन्म में उसे चौरासी लाख योनियों में कोई दूसरा शरीर धारण करना होगा। अगला शरीर कर्म के अनुसार तुरन्त प्राप्त होगा। तब उसे वही शरीर स्वीकार करना होगा—किसी प्रकार के प्रतिकार से लाभ नहीं होगा। प्रकृति का यह कठोर नियम है। अविद्यावश जीवात्मा को अपना परम आनन्दमय जीवन ज्ञात नहीं रहता जिससे वह माया के प्रभाव से भौतिक विषयों के प्रति आकृष्ट होता है। इस संसार में उसे कभी भी सुख नहीं मिल पाता, किन्तु वह उसी के लिए अत्यधिक श्रम करता है। यही माया है।

यस्यामिमे षण्णरदेव दस्यवः

सार्थं विलुम्पन्ति कुनायकं बलात् ।

गोमायवो यत्र हरन्ति सार्थिकं

प्रमत्तमाविश्य यथोरणं वृकाः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यस्याम्—जिसमें ( भवाटवी में ); इमे—ये; षट्—छः; नर-देव—हे राजा; दस्यवः—लुटेरे; स-अर्थम्—मिथ्या विचारों में ग्रस्त बद्धजीव; विलुम्पन्ति—लूटते हैं सर्वस्व हर लेते हैं; कु-नायकम्—जो नामधारी गुरुओं द्वारा सदैव ही कुमार्ग में ले जाये जाते हैं; बलात्—बलपूर्वक; गोमायवः—लोमड़ियों की तरह; यत्र—जिस जंगल में; हरन्ति—लूट लेते हैं; स-अर्थिकम्—जीव जो अपने शरीर और आत्मा के पोषण के लिए धन की खोज करता रहता है; प्रमत्तम्—आत्महित न समझने वाला पागल व्यक्ति; आविश्य—भीतर प्रवेश करके; यथा—जिस प्रकार; उरणम्—सुरक्षित मेमने को; वृकाः—भेड़िये।

हे राजा रहूगण, इस संसार रूपी जंगल ( भवाटवी ) में छह अत्यन्त प्रबल लुटेरे हैं। जब बद्धजीव कुछ भौतिक लाभ के हेतु इस जंगल में प्रवेश करता है, तो ये छहों लुटेरे उसे गुमराह कर देते हैं। इस प्रकार से बद्ध वणिक् ( व्यापारी ) यह नहीं समझ पाता कि वह अपने धन को किस प्रकार खर्चे और यह धन इन लुटेरों द्वारा छीन लिया जाता है। जिस प्रकार चौकसी में पले मेमने को उठा ले जाने के लिए जंगल में भेड़िए, सियार तथा अन्य हिंस्र पशु रहते हैं उसी प्रकार

पत्नी तथा सन्तान उस वणिक के हृदय में प्रवेश करके अनेक प्रकार से लूटते रहते हैं।

तात्पर्य : जंगल में अनेक लुटेरे, डाकू, सियार तथा भेड़िये होते हैं। सियारों की तुलना मनुष्य की पत्नी तथा बच्चों से की गई है। जिस प्रकार से सियार *अर्धरात्रि* में किलकारी मारते हैं, उसी प्रकार इस संसार में पत्नी तथा बच्चे भी चिल्लाते हैं। बच्चे कहते हैं, “पिता जी, हमें यह चाहिए, लाकर दो, हम आपके प्रिय बच्चे हैं,” अथवा पत्नी कहती, “मैं तुम्हारी पत्नी हूँ, मुझे इस चीज की आवश्यकता है; मुझे यह दो।” इस प्रकार से मनुष्य जंगल में चोरों द्वारा लूट लिया जाता है। जीवन का उद्देश्य न जानने से मनुष्य गुमराह होता रहता है। जीवन का उद्देश्य तो विष्णु हैं ( *न ते विदुः स्वार्थगतिम् हि विष्णुम्* )। प्रत्येक व्यक्ति धनार्जन के लिए अथक श्रम करता है, किन्तु उसे वह पता नहीं रहता कि उसके स्वार्थ की पूर्ति तो श्रीभगवान् की सेवा करने में है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन की उन्नति में अपना धन न लगाकर वह अपनी गाढ़ी कमाई क्लबों, वेश्यालयों, मद्यपान, बधिकगृहों आदि में खर्च कर देता है। पापकर्म के कारण वह देहान्तर क्रिया (आवागमन) में फँस जाता है और उसे एक के बाद एक शरीर धारण करना पड़ता है। इस प्रकार लगातार कष्ट भोगने से उसे सुख नहीं मिल पाता।

प्रभूतवीरुत्तृणगुल्मगह्वरे

कठोरदंशैर्मशकैरुपद्रुतः ।

क्वचित्तु गन्धर्वपुरं प्रपश्यति

क्वचित्क्वचिच्चाशुरयोल्मुकग्रहम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

प्रभूत—प्रचुर; वीरुत्—लताओं; तृण—घास के तिनकों; गुल्म—घने जंगलों के; गह्वरे—कुंजों में; कठोर—कूर; दंशैः—काटने से; मशकैः—मच्छरों के द्वारा; उपद्रुतः—विक्षुब्ध; क्वचित्—कभी-कभी; तु—लेकिन; गन्धर्व-पुरम्—गन्धर्वों द्वारा बनाया गया मिथ्या स्थान, कल्पित गन्धर्वपुरी; प्रपश्यति—देखता है; क्वचित्—( तथा ) कभी-कभी; क्वचित्—कभी-कभी; च—तथा; आशु-रय—अत्यन्त तेजी से; उल्मुक—उल्का के तुल्य; ग्रहम्—भूतप्रेत, पिशाच।

इस जंगल में झाड़ियों, घास तथा लताओं के झाड़-झंखाड़ से बने सघन कुंजों में बुरी तरह से काटने वाले मच्छरों ( ईर्ष्यालु पुरुषों ) के होने से बद्धजीव निरन्तर परेशान रहता है। कभी कभी उसे जंगल में काल्पनिक महल ( गन्धर्वपुर ) दिखता है, तो कभी कभी वह आसमान से टूटते उल्का के समान प्रेत को देखकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है।

तात्पर्य : भौतिक घर वस्तुतः सकाम कर्म का छिद्र है। जीविकोपार्जन के लिए मनुष्य नाना प्रकार के उद्योगों एवं व्यापारों में अपने को लगाता है और स्वर्गलोक जाने के लिए कभी-कभी बड़े-बड़े यज्ञ

करता है। इस के साथ ही साथ प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी धंधे में लग कर अपनी जीविका कमाने में लगा रहता है। इन कार्यों में अनेक अवांछित लोगों से पाला पड़ता है जिनका आचरण मच्छरों के दंश के समान कहा जा सकता है। इससे विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी मनुष्य विशाल आवास बनाने और स्थायी रूप से जीवन बिताने की कल्पना करता रहता है, किन्तु यह सम्भव नहीं हो पाता। स्वर्ण की उपमा उस प्रेत से दी गई है जो आकाश में टूटे हुए उल्का की तरह दिखाई देता है। वह एक क्षण के लिए दृष्टिगोचर होकर छिप जाता है। सामान्यतः कर्मी स्वर्ण या सम्पत्ति से आकर्षित होते हैं यहाँ उनकी उपमा भूतप्रेत तथा पिशाचिनियों से दी गई है।

निवासतोयद्रविणात्मबुद्धि-

स्ततस्ततो धावति भो अटव्याम् ।

क्वचिच्च वात्योत्थितपांसुधूम्रा

दिशो न जानाति रजस्वलाक्षः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

निवास—आवास; तोय—जल; द्रविण—सम्पत्ति; आत्म-बुद्धि:—जो भौतिक वस्तुओं को आत्मा या स्वयं मानता है; ततः—इधर-उधर; धावति—दौड़ता है; भो:—हे राजा; अटव्याम्—इस संसार रूपी जंगल-मार्ग पर; क्वचित् च—तथा कभी-कभी; वात्या—बवंडर से; उत्थित—ऊपर उठ कर; पांसु—धूलि से; धूम्रा:—धुँएँ के रंग का प्रतीत होता है; दिशः—दिशाएँ; न—नहीं; जानाति—जानता है; रजः-वल-अक्षः—हवा की धूल से ढकी हुई आँखों वाला अथवा जो रजस्वला पत्नी के प्रति आकृष्ट है।

हे राजन्, इस संसार रूपी जंगल के मार्ग में घर, सम्पत्ति, कुटुम्बी इत्यादि से भ्रमित बुद्धि वाला वणिक सफलता की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान को दौड़ता रहता है। कभी-कभी उसकी आँखें बवंडर की धूल से ढक जाती हैं, अर्थात् कामवश वह अपनी स्त्री की सुन्दरता के प्रति, उसे विशेष रूप से रजोकाल में, मुग्ध हो जाता है। इस प्रकार अन्धा होने से उसे यह नहीं दिखाई पड़ता कि उसे कहाँ जाना है, अथवा वह क्या कर रहा है।

तात्पर्य : कहा गया है कि गृहस्थ जीवन का सारा आकर्षण पत्नी में केन्द्रित होता है, क्योंकि संभोग ही गृहस्थ जीवन का केन्द्र-बिन्दु है—*यन्मैथुनादि-गृहमेधि-सुखं हि तुच्छम्।* भौतिकतावादी पुरुष स्त्री को केन्द्र बनाकर अहर्निश श्रम करता है। संभोग उसका एक-मात्र सुख है। इसीलिये कर्मी सदैव मित्र रूप में स्त्रियों के प्रति अथवा पत्नियों के प्रति आकृष्ट होते हैं। निस्सन्देह बिना संभोग के उनका काम नहीं चल पाता। ऐसी दशा में पत्नी की तुलना, विशेष रूप से जब वह रजस्वला होती है,

बवंडर से की जाती है। जो गृहस्थाश्रम का नियमानुसार पालन करते हैं, वे माह में एक बार, रजोकाल के बाद, संभोग करते हैं। मनुष्य जैसे-जैसे इस अवसर की ताक में रहता है, उसकी आँखें अपनी पत्नी की सुन्दरता से सम्मोहित होती रहती हैं। अतः यह कहा गया है कि बवंडर आँखों को धूल से ढक देता है। ऐसा कामी पुरुष यह नहीं जानता कि उसके सारे व्यापार विभिन्न देवताओं द्वारा, विशेष रूप से सूर्यदेव द्वारा, देखे जा रहे हैं और अगले जन्म के कर्मों के लिए उनका अंकन हो रहा है। ज्योतिष सम्बन्धी गणनाएँ ज्योतिशास्त्र कहलाती हैं। चूँकि इस जगत में ज्योति अथवा तेज विभिन्न नक्षत्रों तथा ग्रहों से प्राप्त होता है, इसलिए यह विज्ञान ज्योतिशास्त्र कहलाता है। ज्योति की गणनाओं से हमारे भविष्य का पता चल जाता है। दूसरे शब्दों में, समस्त ज्योतिपिंड—नक्षत्र, सूर्य तथा चन्द्रमा—हर एक बद्धजीव के व्यापारों को देखते रहते हैं। इसी के अनुसार उसे विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त होता है। किन्तु कामी पुरुष की जिसकी आँखें भौतिक जगत के बवंडर की धूल से ढकी रहती हैं, यह कभी नहीं सोच पाता कि उसके समस्त व्यापारों का अवलोकन विभिन्न नक्षत्रों तथा ग्रहों द्वारा किया जा रहा है और उनका अंकन भी हो रहा है। यह न जानते हुए बद्धजीव अपनी कामेच्छाओं की तुष्टि के लिए सभी प्रकार के पापकर्म करता रहता है।

अदृश्यङ्गिल्लीस्वनकर्णशूल

उल्लूकवाग्भिर्व्यथितान्तरात्मा ।

अपुण्यवृक्षान्श्रयते क्षुधार्दितो

मरीचितोयान्यभिधावति क्वचित् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अदृश्य—न दिखने वाले; ङ्गिल्ली—ङ्गीगुरों अथवा मधुमक्खियों के प्रकार का एक कीट; स्वन—शब्द से; कर्ण—शूल—कानों के लिए दुखदायी, कर्णकटु; उल्लूक—उल्लू की; वाग्भिः—बोली से; व्यथित—अत्यन्त विचलित; अन्तः—आत्मा—मन तथा हृदय; अपुण्य-वृक्षान्—अपवित्र वृक्ष, जिनमें फल-फूल नहीं लगते; श्रयते—शरण लेता है; क्षुध—भूख से; अर्दितः—सताया हुआ; मरीचि-तोयानि—मृगतृष्णा के लिए; अभिधावति—पीछे दौड़ता है; क्वचित्—कभी-कभी।

संसार रूपी जंगल में घूमते हुए बद्धजीव को कभी-कभी अदृश्य ङ्गीगुरों की तीक्ष्ण ध्वनि सुनाई पड़ती है जो उसके कानों को अत्यन्त दुखदायी लगती है। कभी-कभी उसका हृदय अपने शत्रुओं के कटु वचनों जैसी प्रतीत होने वाली उल्लूओं की ध्वनि से व्यथित (विचलित) हो उठता है। कभी वह बिना फल फूल वाले वृक्षों का आश्रय ग्रहण करता है क्योंकि वह भूखा होता है, किन्तु उसे कुछ न मिलने से कष्ट भोगना पड़ता है। उसे जल की इच्छा होती है किन्तु वह

केवल मृगतृष्णा से मोहित हो जाने के कारण उसके पीछे दौड़ता है।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत में यह कहा गया है कि भागवत दर्शन उन लोगों के लिए है जो ईर्ष्या से पूर्णरूपेण रहित हैं ( परमो निर्मत्सराणाम् )। यह संसार ईर्ष्यालु व्यक्तियों से परिपूर्ण है। यहाँ तक कि अन्तरंगी भी पीछे से छुरा भोंकने वाले होते हैं। इसीलिए इनकी तुलना जंगल में झींगुरों की झनकार से की गई है। मनुष्य को झींगुर नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु उसकी ध्वनि उसको व्यथित करती रहती है। जब कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत स्वीकार करता है, तो उसे सदैव अपने सम्बन्धियों के कटु वचन सुनने पड़ते हैं। यह संसार का स्वभाव है। पीठ पीछे निन्दा करने वालों से जो मानसिक कष्ट होता है उससे बचा नहीं जा सकता। अत्यन्त व्यथित हो उठने पर कभी कभी वह किसी पापी व्यक्ति के पास सहायता के लिए जाता है, किन्तु बुद्धि न होने से वह उसकी सहायता नहीं कर पाता। इस प्रकार जीव निराश हो जाता है। यह मरुस्थल में जल की खोज के लिए मृगमरीचिका के पीछे दौड़ लगाने के समान है। ऐसे कर्मों से कोई ठोस लाभ नहीं होता। मायाशक्ति द्वारा निर्देशित होने से बद्धजीव को अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं।

क्वचिद्वितोयाः सरितोऽभियाति

परस्परं चालषते निरन्धः ।

आसाद्य दावं क्वचिदग्निगतो

निर्विद्यते क्व च यक्षैर्हतासुः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; वितोयाः—जलहीन; सरितः—नदियाँ; अभियाति—नहाने जाता है अथवा भीतर कूदता है; परस्परम्—एक दूसरे से; च—तथा; आलषते—कामना करता है; निरन्धः—अन्नहीन होने पर; आसाद्य—अनुभव करके; दावम्—पारिवारिक जीवन में जंगल की आग, दावाग्नि; क्वचित्—कभी; अग्नि-तप्तः—आग से जलने के कारण; निर्विद्यते—निराश होता है; क्व—कहीं; च—तथा; यक्षैः—डाकुओं तथा उचक्यों जैसे राजाओं द्वारा; हत—ले लिया जाने पर, छीने जाने पर; असुः—सम्पत्ति, जो प्राणों के समान प्रिय है।

कभी-कभी बद्धजीव उथली नदी में कूद पड़ता है अथवा खाद्यान्न न होने पर ऐसे लोगों से अन्न माँगता है जो दानी नहीं हैं ही नहीं। कभी कभी वह गृहस्थ जीवन की अग्नि से जलने लगता है जो दावाग्नि जैसी होती है और कभी कभी वह उस सम्पत्ति के लिए दुखी हो उठता है जो उसे प्राणों से भी प्रिय है और जिसका अपहरण राजा लोग भारी आयकर के नाम पर करते हैं।

तात्पर्य : सूर्य की झुलसती धूप में रहने से गर्मी अनुभव करने के कारण मनुष्य कभी-कभी नदी

में कूद कर विश्रान्ति प्राप्त करना चाहता है। किन्तु यदि नदी शुष्कप्राय हो और पानी उथला हो तो कूदने वाला अपनी हड्डियाँ ही तुड़वाता है। इसी प्रकार से बद्धजीव निरन्तर कष्टों का अनुभव करता रहता है। कभी अपने मित्रों से सहायता प्राप्त करने के उसके प्रयास सूखी नदी में कूदने के समान ही सामने आते हैं। ऐसे प्रयासों से उसे कोई लाभ नहीं होता। केवल उसकी हड्डियाँ टूटती हैं। कभी-कभी अन्नाभाव के कारण मनुष्य को ऐसे व्यक्ति के पास जाना पड़ सकता है जो दान देने में असमर्थ है या फिर जान-बूझ कर देना नहीं चाहता। कभी-कभी मनुष्य गृहस्थ जीवन में ही बना रहता है, जिसकी उपमा दावाग्नि से दी गई है ( *संसार-दावानल-लीढ -लोक* )। जब सरकार किसी पर भारी कर लगा देती है, तो मनुष्य दुखी हो जाता है। भारी कर के कारण उसे अपनी आय छिपानी पड़ती है, किन्तु सारे यत्नों के बावजूद भी कभी-कभी सरकारी एजेंट इतने सतर्क रहते हैं और इतने बलशाली होते हैं कि वे सारा धन छीन लेते हैं जिससे बद्धजीव अत्यधिक व्यथित हो जाता है।

इस प्रकार भौतिक संसार में रहकर लोग सुखी रहने का प्रयास करते हैं, किन्तु उनका यह प्रयास दावाग्नि से पीड़ित जंगल में सुखी रहने के प्रयास के तुल्य है। जंगल में जाकर कोई आग लगाता नहीं, वह स्वतः प्रकट होती है। इसी प्रकार गृहस्थ जीवन या सांसारिक जीवन में कोई दुखी नहीं रहना चाहता, किन्तु प्रकृति के सुख-दुख के नियम प्रत्येक व्यक्ति पर बरबस लादे जाते हैं। अपने भरण-पोषण के लिए किसी पर आश्रित होना कितना लज्जास्पद होता है, इसीलिए वैदिक पद्धति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को निराश्रित रहना चाहिए। केवल शूद्र ही स्वतंत्र रूप से रहने में असमर्थ हैं। उन्हें अपने भरण के लिए किसी-न किसी की सेवा करनी होती है। शास्त्रों में कहा गया है— *कलौ शूद्र-सम्भवाः ।* इस कलियुग में प्रत्येक व्यक्ति अपने देह-भरण के लिए अन्य की कृपा पर आश्रित रहता है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को शूद्र कहा गया है। *श्रीमद्भागवत* के बारहवें स्कंध में कहा गया है कि कलियुग में सरकार कर तो लेगी, किन्तु उसके बदले में जनता का कल्याण नहीं देखेगी। *अनावृष्ट्या विनक्ष्यन्ति दुर्भिक्षः-कर-पीडिताः ।* इस युग में वर्षा की न्यूनता भी होगी जिससे अन्नाभाव होगा और सरकार द्वारा लगाये गये करों से जनता अत्यधिक पीड़ित होगी। इस प्रकार जनता शान्तिपूर्ण जीवन नहीं बिता सकेगी अतः वह अपना घर-बार छोड़कर घोर निराशावश जंगलों में चली जाएगी।



शूरैर्हतस्वः क्व च निर्विण्णचेताः

शोचन्विमुह्यन्नुपयाति कश्मलम् ।

क्वचिच्च गन्धर्वपुरं प्रविष्टः

प्रमोदते निर्वृतवन्मुहूर्तम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

शूरैः—प्रबल शत्रुओं द्वारा; हत-स्वः—जिसका समस्त धन चुराया जा चुका है; क्व च—कभी-कभी; निर्विण्ण-चेताः—हृदय में अन्यन्त खिन्न एवं व्यथित; शोचन्—अत्यधिक पश्चात्ताप करते हुए; विमुह्यन्—किंकर्तव्यविमूढ़ होकर; उपयाति—हो जाता है; कश्मलम्—संज्ञाशून्य, अचेत; क्वचित्—कभी-कभी; च—भी; गन्धर्व-पुरम्—जंगल में स्थित कपोलकल्पित नगर में; प्रविष्टः—प्रवेश हुआ; प्रमोदते—आनन्द भोगता है; निर्वृत-वत्—सिद्ध पुरुष के समान; मुहूर्तम्—केवल क्षण भर के लिए।

कभी-कभी अपने से बड़े तथा बलवान व्यक्ति द्वारा पराजित होने अथवा लूटे जाने पर जीवात्मा की सारी सम्पत्ति चली जाती है। इससे वह दुखी हो जाता है, क्षति पर पश्चात्ताप करता है यहाँ तक कि कभी-कभी अचेत भी हो जाता है। कभी-कभी वह ऐसे विशाल प्रासाद की कल्पना करने लगता है, जिसमें वह अपने परिवार तथा अपने धन समेत सुखपूर्वक रह सके। यदि ऐसा हो सके तो वह अपने को अत्यन्त सन्तुष्ट समझता है, किन्तु ऐसा तथाकथित सुख क्षणिक होता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में गन्धर्व-पुरम् अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द है। कभी-कभी जंगल के बीच बहुत एक बड़ा किला दृष्टिगोचर होने लगता है, इसे ही “हवाई किला” कहा जाता है। वास्तव में इस किले का अस्तित्व मस्तिष्क के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं होता। इसे गन्धर्वपुर कहा जाता है। इस संसार रूपी जंगल में बद्धजीव कभी-कभी बड़े-बड़े किले तथा गगनचुम्बी प्रासादों की कल्पना करने में अपनी शक्ति नष्ट करता है और इनमें अपने परिवार सहित सदा के लिए सुखपूर्वक रहने की आशा बाँधता है। किन्तु प्राकृतिक नियम ऐसा होने नहीं देते। जब वह ऐसे किलों में प्रवेश करता है, तो क्षण भर के लिए अपने को सुखी समझता है, किन्तु उसका यह सुख स्थायी नहीं होता। यह सुख कुछ ही वर्ष चल पाता है, क्योंकि मृत्यु के समय उसे यह किला छोड़ना पड़ता है। सांसारिक विनिमय का यही विधान है। विद्यापति ने ऐसे सुख को उस सुख के समान बताया है जो मरुस्थल में पानी की एक बूँद देखकर उत्पन्न होता है। मरुस्थल सूर्य के प्रखर ताप से गर्म हो जाता है, अतः यदि हम मरुस्थल के ताप को घटाना चाहें तो करोड़ों गैलन पानी की आवश्यकता पड़ेगी। भला ऐसे में पानी की एक बूँद का क्या प्रभाव हो सकता है? पानी का महत्त्व तो निश्चय ही है, किन्तु एक बूँद जल से मरुस्थल की तपन कम नहीं हो सकती। इस संसार का प्रत्येक व्यक्ति महत्त्वाकांक्षी है, किन्तु तपन अत्यन्त झुलसाने

वाली है। ऐसे में काल्पनिक दवाई किले से क्या काम चलेगा? इसलिए श्रील विद्यापति ने गाया है—  
 तातल सैकते, वारि-बिन्दु-सम, सुत-मित-रमणि-समाजे। गृहस्थ जीवन, मित्रों तथा समाज के सुख  
 की तुलना जलते हुए रेगिस्तान में पानी की बूँद से की गई है। यह समूचा संसार सुख प्राप्त करने के  
 प्रयास में लगा है, क्योंकि सुख जीव का जन्मसिद्ध अधिकार है। दुर्भाग्यवश इस संसार के संपर्क में  
 आकर जीवात्मा अपने अस्तित्व के लिए केवल संघर्ष करता है। यदि कुछ काल के लिए वह सुखी हो  
 भी जाता है, तो उसका कोई प्रबल शत्रु उसका सर्वस्व लूट लेता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें  
 बड़े-बड़े व्यापारी सहसा दीवालिये बन जाते हैं। तो भी इस संसार की प्रकृति ऐसी है कि मूढ़ लोग  
 इसके प्रति आकृष्ट होकर आत्म-साक्षात्कार के वास्तविक लक्ष्य को भूल जाते हैं।

चलन्क्वचित्कण्टकशर्कराङ्घ्रि-

नंगारुरुक्षुर्विमना इवास्ते ।

पदे पदेऽभ्यन्तरवह्निनादितः

कौटुम्बिकः क्रुध्यति वै जनाय ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

चलन्—चलते हुए; क्वचित्—कभी कभी; कण्टक-शर्कर—काँटे तथा कंकड़ों से छिद कर; अङ्घ्रिः—जिनके पाँव; नग—  
 पर्वत; आरुरुक्षुः—चढ़ने का इच्छुक; विमनाः—उदास; इव—सदृश; आस्ते—हो जाता है; पदे पदे—प्रत्येक पग पर;  
 अभ्यन्तर—भीतरी, पेट के भीतर; वह्निना—क्षुधा की प्रबल अग्नि से; अदितः—थक कर तथा दुखी होकर; कौटुम्बिकः—  
 कुटुम्बियों के साथ रहने वाला व्यक्ति; क्रुध्यति—क्रोध करता है; वै—निश्चय ही; जनाय—अपने परिवार के सदस्यों पर।

कभी-कभी जंगल का व्यापारी पर्वतों तथा पहाड़ियों के ऊपर चढ़ना चाहता है, किन्तु  
 अपर्याप्त पदत्राण के कारण उसके पैरों में कंकड़ तथा काँटे गड़ जाते हैं जिससे वह अत्यन्त  
 उदास हो जाता है। कोई व्यक्ति जो अपने परिवार के प्रति आसक्त होता है, वह कभी कभी जब  
 अत्यधिक भूख के मारे त्रस्त हो जाता है, तो वह अपनी दयनीय स्थिति के कारण अपने  
 कुटुम्बियों पर विफर उठता है।

तात्पर्य : महत्वाकांक्षी बद्धजीव अपने परिवार सहित इस संसार में सुखी रहना चाहता है। उसकी  
 तुलना जंगल के उस यात्री से की गई हो जो काँटों तथा कंकड़ों से भरी पहाड़ी पर चढ़ना चाहता है।  
 जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, समाज, मैत्री तथा प्रेम से प्राप्त सुख मरुस्थल की झुलसती  
 गर्मी में जल की बूँद के समान है। मनुष्य अपने समाज में महान् तथा शक्तिशाली बनने की सोच  
 सकता है, किन्तु यह काँटों से भरीहुई पहाड़ी पर चढ़ने के समान है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने

परिवार की तुलना ऊँचे पर्वत से दी है। कुटुम्बियों के साथ सुख की कामना मानो भूखे पेट काँटों से भरे पर्वत पर चढ़ने का प्रयास हो। कुटुम्बियों को सन्तुष्ट रखने के लिए प्रयत्न करने के बावजूद लगभग ९९.९ प्रतिशत जनसंख्या का पारिवारिक जीवन दुखी है। पाश्चात्य देशों में तो पारिवारिक सदस्यों के असन्तोष के कारण पारिवारिक जीवन रहा ही नहीं। तलाक की अनेक घटनाएँ होती रहती हैं और बच्चे असन्तोष के कारण माता-पिता का संरक्षण छोड़ देते हैं। विशेष रूप से इस कलिकाल में पारिवारिक जीवन सिमटता जा रहा है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति आत्म-केन्द्रित होता जा रहा है। यदि किसी के पास परिवार चलाने के लिए पर्याप्त धन रहता भी है, तो भी परिवार में उससे कोई प्रसन्न नहीं रहता। फलस्वरूप वर्णाश्रम धर्म के अनुसार पारिवारिक जीवन बीच में ही त्यागना पड़ता है—*पंचाशोर्ध्वं वनं व्रजेत्*—मनुष्य को चाहिए पचास वर्ष की आयु में गृह त्याग कर वृन्दावन या जंगल में चला जाये। यह श्रील प्रह्लाद महाराज के द्वारा किया गया विधान है (भागवत ७.५.५) —

*तत् साधु मन्येऽसुरवर्यं देहिनां सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात् ।*

*हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्भरिमाश्रयेत् ॥*

“जंगल-जंगल घूमने में कोई हित नहीं। मनुष्य को चाहिए कि वह वृन्दावन जाकर गोविन्द की शरण ले। इससे वह सुखी बनेगा।” अतः कृष्णभावनामृत संघ एक कृष्णबलराम का मन्दिर बनवा रहा है, जिसमें अपने सदस्यों तथा बाहरी लोगों को बुलाकर आध्यात्मिक वातावरण में शान्तिपूर्वक रहकर जीवन बिताने के लिए व्यवस्था होगी। इससे दिव्यलोक तक उठने और श्रीभगवान् के धाम को वापस जाने में सहायता मिलेगी। इस श्लोक में एक अन्य वाक्य भी महत्त्वपूर्ण है—*कौटुम्बिकः क्रुध्यति वै जनाय*। जब मनुष्य का मन अनेक प्रकार से विचलित रहता है, तो वह अपनी बेचारी पत्नी तथा बच्चों पर क्रोध जताकर अपने आपको तुष्ट करता है। पत्नी तथा बच्चे स्वभावतः पिता पर आश्रित रहते हैं, किन्तु पिता परिवार का ठीक से पालन न कर सकने के कारण मानसिक रूप से दुखी रहता है, अतः वह वृथा ही स्वजनों को डाँटता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१२.२.९) में कहा गया है—*आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम्*। पारिवारिक जीवन से त्रस्त होकर मनुष्य विवाह-विच्छेद द्वारा या अन्य साधनों से परिवार से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है। यदि विच्छेद करना है, तो हँसी-

खुशी से क्यों नहीं करते? नियमपूर्वक विच्छेद बलात् विच्छेद से अच्छा होता है। बलात् विच्छेद से कोई सुखी नहीं रह सकता, किन्तु पारस्परिक विचार-विमर्श या वैदिक व्यवस्था के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि एक निश्चित आयु में वह पारिवारिक प्रपंचों से विलग हो ले और श्रीकृष्ण पर पूर्णतः आश्रित हो ले। इससे जीवन सार्थक बनता है।

क्वचिन्निगीर्णोऽजगराहिना जनो  
 नावैति किञ्चिद्विपिनेऽपविद्धः ।  
 दष्टः स्म श्रेते क्व च दन्दशूकैर्  
 अन्धोऽन्धकूपे पतितस्तमिस्त्रे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; निगीर्णः—निगले जाने पर; अजगर-अहिना—अजगर नामक बड़े सर्प द्वारा; जनः—बद्धजीव; न—नहीं; अवैति—समझता है; किञ्चित्—कुछ भी; विपिने—जंगल में; अपविद्धः—कष्ट के तीरों से बेधा हुआ; दष्टः—दंश किया गया, काटे जाने पर; स्म—निस्संदेह; श्रेते—लेट जाता है; क्व च—कभी-कभी; दन्द-शूकैः—अन्य सर्पों द्वारा; अन्धः—अन्धा; अन्ध-कूपे—अंधे कुएँ में; पतितः—गिरा हुआ; तमिस्त्रे—नारकीय जीवन में।

कभी-कभी इस भौतिक जंगल में बद्धजीव को अजगर निगल लेते हैं या मरोड़ डालते हैं। ऐसी अवस्था में वह चेतना तथा ज्ञान शून्य होकर मृत व्यक्ति तुल्य जंगल में पड़ा रहता है। कभी-कभी अन्य विषैले सर्प भी आकर काट लेते हैं। अचेतन होने के कारण वह नारकीय जीवन के अन्धे कूप में गिर जाता है जहाँ से बचकर निकल पाने की कोई आशा नहीं रहती।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति साँप के काटे जाने से बेहोश हो जाता है, तो उसे यह नहीं पता चलता कि बाहर क्या हो रहा है। यह बेहोशी की अवस्था गाढ़ निद्रा की अवस्था है। इसी प्रकार बद्धजीव वस्तुतः माया की गोद में सो रहा है। भक्तिविनोद ठाकुर का गीत—*कत निद्रा याओ माया-पिशाचीर कोले*—“हे जीवात्मा, तुम इस तरह माया की गोद में कब तक सोते रहोगे?” मनुष्यों को यह पता नहीं चल पाता कि वे इस संसार में वास्तव में सो रहे हैं और उन्हें आध्यात्मिक-जीवन का कोई ज्ञान नहीं रहता। अतः चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

*एनेछि औषधि माया नाशिबार लागि'।*

*हरि-नाम-महा-मंत्र लओ तुमि मागि'॥*

“मैं प्रत्येक जीव को चिर निद्रा से जगाने की औषधि लाया हूँ। आप ईश्वर का पवित्र नाम, हरे कृष्ण महामंत्र, को अंगीकार करें और जगें।” *कठोपनिषद्* (१.३.१४) का भी कथन है—*उत्तिष्ठ जाग्रत*

प्राप्य वरान्निबोधत—“हे जीवात्मा, तुम इस संसार में सो रहे हो। उठो और मनुष्य जीवन का लाभ उठाओ।” सुप्त दशा का अर्थ है ज्ञान की हानि। भगवद्गीता (२.६९) में भी कहा गया है— या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी—“जो सब जीवों के लिए रात्रि है, वही संयमी पुरुषों के जगने का समय है।” यहाँ तक कि स्वर्गलोक में भी प्रत्येक प्राणी माया के वश में है। कोई भी जीवन के वास्तविक मूल्यों में रुचि नहीं रखता। सुप्त अवस्था, जिसे काल-सर्प कहा गया है, बद्धजीव को अविद्या में रखती है, जिससे शुद्ध चेतना जाती रहती है। जंगल में अनेक अंधे (भूपट्टू) कुएँ होते हैं और यदि कोई इनमें से किसी एक में गिर जाये तो फिर उससे उबरने की कोई आशा नहीं रहती। सुप्तावस्था में कुछ पशु, विशेष रूप से सर्प, मनुष्य को निरन्तर काटते रहते हैं।

कर्हि स्म चित्क्षुद्ररसान्विचिन्वं-

स्तन्मक्षिकाभिर्व्यथितो विमानः ।

तत्रातिकृच्छ्रात्प्रतिलब्धमानो

बलाद्विलुम्पन्त्यथ तं ततोऽन्ये ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कर्हि स्म चित्—कभी-कभी; क्षुद्र—अत्यन्त लघु; रसान्—रति सुख; विचिन्वन्—ढूँढने के लिए; तत्—उन स्त्रियों का; मक्षिकाभिः—मधुमक्खियों से अथवा पतियों या कुटुम्बियों से; व्यथितः—अत्यन्त दुखी; विमानः—अपमानित; तत्र—वहाँ पर; अति—अत्यन्त; कृच्छ्रात्—धन के व्यय के कारण कठिनाई से; प्रतिलब्धमानः—रति सुख प्राप्त करके; बलात्—बलपूर्वक; विलुम्पन्ति—अपहरण की गई; अथ—तत्पश्चात्; तम्—इन्द्रिय सुख की वस्तु ( स्त्री ); ततः—उससे; अन्ये—अन्य व्यभिचारी ( कामी )।

कभी-कभी थोड़े से रति-सुख के लिए मनुष्य चरित्रहीन स्त्री की खोज करता रहता है। इस प्रयास में उस स्त्री के सम्बन्धियों द्वारा उसका अपमान एवं प्रताड़न होता है। यह वैसा ही है जैसा कि मधुमक्खी के छत्ते से शहद ( मधु ) निकालते समय मक्खियाँ आक्रमण कर दें। कभी-कभी प्रचुर धन व्यय करने पर उसे कुछ अतिरिक्त इन्द्रिय भोग के लिए दूसरी स्त्री प्राप्त हो सकती है। किन्तु दुर्भाग्यवश इन्द्रिय सुख की सामग्री रूप वह स्त्री चली जाती है, अथवा किसी अन्य कामी द्वारा अपहरण कर ली जाती है।

तात्पर्य : बड़े-बड़े जंगलों में मधुमक्खी के छत्ते बड़े महत्व के होते हैं। प्रायः लोग वहाँ जाकर छत्तों से मधु एकत्र करते हैं, कभी-कभी मक्खियाँ आक्रमण करके उन्हें दण्डित भी करती हैं। मनुष्य-समाज में जो लोग कृष्णभावनाभावित नहीं हैं, वे भौतिक जीवन के जंगल में विषयी जीवन के मधु के

लोभ के कारण रहते हैं। ऐसे कामी पुरुष कभी भी एक पत्नी से सन्तुष्ट नहीं होते। उन्हें अनेक स्त्रियाँ चाहिए। प्रतिदिन वे अत्यन्त कठिनाई से ऐसी स्त्रियाँ प्राप्त करने का प्रयास करते हैं और इस प्रकार का मधु चखने के प्रयास में उन पर कभी-कभी उस स्त्री के परिजनों का प्रहार भी हो जाता है और बड़ी ताड़ना पड़ती है। भले ही घूस देकर संभोग के लिए कोई अन्य स्त्री पा ले, किन्तु दूसरा कामी उसका अपहरण कर सकता है अथवा कुछ अधिक मूल्यवान और अच्छी वस्तु का प्रलोभन दे सकता है। भौतिक संसार रूपी जंगल में इस प्रकार का स्त्री-मृगया चलता रहता है, जो कभी वैध होता है, तो कभी अवैध। फलतः इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन में भक्तों के लिए अवैध स्त्री-पुरुष संग वर्जित है। इससे वे अनेक विपत्तियों से बचे रहते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी विवाहिता पत्नी से ही तुष्ट रहे। वह अपने विषयों की तृप्ति अपनी पत्नी से कर सकता है। इससे समाज में कुव्यवस्था भी नहीं उत्पन्न होगी और ऐसा करने के कारण उसे दण्डित भी नहीं होना पड़ेगा।

क्वचिच्च शीतातपवातवर्ष-

प्रतिक्रियां कर्तुमनीश आस्ते ।

क्वचिन्मिथो विपणन्यच्च किञ्चिद्

विद्वेषमृच्छत्युत वित्तशाठ्यात् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; च—भी; शीत-आतप-वात-वर्ष—ठंड, कड़ी गर्मी, तेज हवा तथा अधिक वर्षा की; प्रतिक्रियाम्—प्रतिक्रिया, जवाबी क्रिया; कर्तुम्—करना; अनीशः—असमर्थ; आस्ते—कष्ट में रहता है; क्वचित्—कभी-कभी; मिथः—परस्पर; विपणन्—बेच कर; यत् च—जो कुछ; किञ्चित्—थोड़ा भी; विद्वेषम्—पारस्परिक द्वेष ( शत्रुता ); ऋच्छति—प्राप्त करता है; उत—ऐसा कहते हैं; वित्त-शाठ्यात्—केवल धन के लिए एक दूसरे को ठगने के कारण।

कभी-कभी जीवात्मा बर्फीली ठंड, कड़ी गर्मी, तेज हवा, अति-वृष्टि इत्यादि प्राकृतिक उत्पातों का सामना करने में लगा रहता है। किन्तु जब वह ऐसा नहीं कर पाता तो अत्यन्त दुखी हो जाता है। कभी-कभी वह एक के बाद एक व्यावसायिक लेन-देन में ठगा जाता है। इस प्रकार ठगे जाने पर जीवात्माएँ एक दूसरे से शत्रुता ठान लेती हैं।

तात्पर्य : यह जीवन-संघर्ष का उदाहरण है, जिसमें भौतिक प्रकृति के घातों का सामना किया जाता है। इससे समाज में शत्रुता उत्पन्न होती है, फलस्वरूप समाज ईर्ष्यालु मनुष्यों से भर जाता है। एक व्यक्ति दूसरे से ईर्ष्या करता है। यही संसार की रीति है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन ईर्ष्यारहित वातावरण उत्पन्न करना चाहता है। निस्सन्देह, यह सबके लिए सम्भव नहीं कि वे कृष्णभावनाभावित

हो सकें, किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोलन ऐसे आदर्श समाज की सृष्टि कर सकता है जो द्वेषरहित हो।

क्वचित्क्वचित्क्षीणधनस्तु तस्मिन्

शय्यासनस्थानविहारहीनः ।

याचन्यरादप्रतिलब्धकामः

पारक्यदृष्टिर्लभतेऽवमानम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

क्वचित् क्वचित्—कभी-कभी; क्षीण-धनः—धनहीन होने पर; तु—लेकिन; तस्मिन्—उस जंगल में; शय्या—लेटने का बिस्तर; आसन—बैठने का स्थान; स्थान—आवास; विहार—परिवार सहित सुखोपभोग; हीनः—विहीन होकर; याचन्—भीख माँग कर; परात्—अन्यों ( मित्रों तथा सम्बन्धियों ) से; अप्रतिलब्ध-कामः—कामना की पूर्ति न होने से; पारक्य-दृष्टिः—अन्यों की सम्पत्ति का लालची; लभते—प्राप्त करता है; अवमानम्—अनादर।

संसार के जंगली मार्ग में कभी-कभी व्यक्ति धनहीन हो जाता है, जिसके कारण उसके पास न समुचित घर न बिस्तर या बैठने का स्थान होता है, न ही समुचित पारिवारिक सुख ही उपलब्ध हो पाता है। अतः वह अन्यों से धन माँगता है, किन्तु जब माँगने पर भी उसकी इच्छाएँ अपूर्ण रहती हैं, तो वह या तो उधार लेना चाहता है या फिर अन्यों की सम्पत्ति चुराना चाहता है। इस तरह वह समाज में अपमानित होता है।

तात्पर्य : इस संसार में भीख माँगने, उधार लेने या चुराने के सिद्धान्त अत्यन्त उपयुक्त हैं। जब किसी को आवश्यकता पड़ती है, तो वह माँगता, उधार लेता या फिर चोरी करता है। यदि माँगने से काम नहीं चलता तो वह उधार लेता है। यदि उधार अदा नहीं कर पाता तो वह चोरी करता है और जब पकड़ा जाता है, तो अपमानित होता है। यह इस संसार का नियम है। कोई भी मनुष्य ईमानदारी से जीवित नहीं रह सकता, अतः मनुष्य छल करके, माँग करके, उधार ले करके या चोरी करके अपनी तृप्ति करना चाहता है। इस तरह इस संसार में कोई भी शान्तिपूर्वक नहीं रह रहा है।

अन्योन्यवित्तव्यतिषङ्गवृद्ध-

वैरानुबन्धो विवहन्मिथश्च ।

अध्वन्यमुष्मिन्नुरुकृच्छ्रवित्त-

बाधोपसर्गैर्विहरन्विपन्नः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अन्योन्य—एक दूसरे से; वित्त-व्यतिषङ्ग—धन के लेन-देन द्वारा; वृद्ध—बढ़ा हुआ; वैर-अनुबन्धः—वैर भाव; विवहन्—कभी-कभी ब्याह द्वारा; मिथः—परस्पर; च—तथा; अध्वनि—संसार-पथ पर; अमुष्मिन्—वह; उरु-कृच्छ्र—कठिनाइयों से; वित्त-बाध—धन की कमी से; उपसर्गैः—रोगों से; विहरन्—घूमते हुए; विपन्नः—अत्यन्त चिन्तित हो जाता है।

आर्थिक लेने-देने के कारण सम्बन्धों में कटुता उत्पन्न होती है, जिसका अन्त शत्रुता में होता है। कभी पति-पत्नी भौतिक उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होते हैं और अपने सम्बन्ध बनाये रखने के लिए वे कठोर श्रम करते हैं, तो कभी धनाभाव अथवा रुग्ण दशा के कारण वे अत्यधिक चिन्तित रहकर मरणासन्न हो जाते हैं।

तात्पर्य : इस संसार में मनुष्यों तथा समाजों, यहाँ तक कि राष्ट्रों के बीच अनेक प्रकार के पारस्परिक लेन-देन चलते हैं। किन्तु इनका अन्त दोनों पक्षों की शत्रुता में होता है। इसी प्रकार विवाह-सम्बन्ध में आर्थिक लेन-देन के कारण घातक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इससे मनुष्य या तो बीमार पड़ जाता है या आर्थिक रूप से चिन्तित रहने लगता है। आधुनिक युग में अधिकांश देशों का आर्थिक विकास हुआ है, किन्तु व्यापारिक लेन-देन के कारण सम्बन्धों में तनाव आया है। अन्त में राष्ट्रों के बीच युद्ध छिड़ जाता है। इस उथल-पुथल से समूचे विश्व का विनाश होता है और लोगों को अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ता है।

तांस्तान्विपन्नान्स हि तत्र तत्र

विहाय जातं परिगृह्य सार्थः ।

आवर्ततेऽद्यापि न कश्चिदत्र

वीराध्वनः पारमुपैति योगम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तान् तान्—उन सबों को; विपन्नान्—विभिन्न प्रकार से व्यथित; सः—जीव; हि—निश्चय ही; तत्र तत्र—यहाँ-वहाँ; विहाय—छोड़कर; जातम्—नवजातों को, नये पैदा हुआओं को; परिगृह्य—लेकर; स-अर्थः—अपने हित की खोज में जीव; आवर्तते—जंगल में घूमता रहता है; अद्य अपि—आज तक; न—नहीं; कश्चित्—कोई भी; अत्र—यहाँ इस जंगल में; वीर—हे वीर; अध्वनः—भौतिक जीवन का मार्ग; पारम्—अन्त; उपैति—पाता है; योगम्—श्रीभगवान् की भक्ति-साधना।

हे राजन्, भौतिक जीवन रूपी जंगल के मार्ग में मनुष्य पहले अपने पिता तथा माता को खोता है और उनकी मृत्यु के बाद वह नवजात बच्चों से आसक्त हो जाता है। इस तरह वह भौतिक प्रगति के मार्ग में घूमता रहता है और अन्त में अत्यन्त व्यथित हो जाता है। किसी को मृत्यु के क्षण तक यह पता नहीं चल पाता कि वह उससे किस प्रकार निकले।

तात्पर्य : इस संसार में गृहस्थ जीवन संभोग-संस्थान है। यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखम् (भागवत ७.९.४५)। माता-पिता के संभोग से संतान उत्पन्न होती है, सन्तानों का ब्याह होता है और वे भी उसी विषयी-जीवन का पालन करते हैं, उनके भी संतानें होती हैं। इस प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी भौतिक जीवन



के कष्टों से मुक्ति के लिए यही क्रम चलता रहता है। इनमें से कोई भी उस ज्ञान तथा वैराग्य के मार्ग को अंगीकार नहीं करता जिसका अन्त भक्तियोग में होता है। वास्तव में मनुष्य जीवन तो ज्ञान और वैराग्य के लिए ही होता है। इन्हीं के माध्यम से भक्ति प्राप्त हो सकती है। दुर्भाग्यवश इस युग के लोग साधु-संग से कतराते हैं और पिटा-पिटाया गृहस्थ जीवन बिताते हैं। इस तरह वे धन तथा विषय-कर्मों के आदान-प्रदान से पीड़ित रहते हैं।

मनस्विनो निर्जितदिग्गजेन्द्रा

ममेति सर्वे भुवि बद्धवैराः ।

मृधे शयीरन्न तु तद्व्रजन्ति

यन्न्यस्तदण्डो गतवैरोऽभियाति ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

मनस्विनः—बड़े-बड़े वीर पुरुष ( विचारक ); निर्जित-दिक्-गजेन्द्राः—जिन्होंने हाथियों के समान बलशाली वीरों को जीत लिया है; मम—मेरा ( मेरा देश, मेरी भूमि, मेरा परिवार, मेरा धर्म ); इति—इस प्रकार; सर्वे—समस्त ( महान् राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक नेता ); भुवि—इस संसार में; बद्ध-वैराः—परम्परा से वैरभाव उत्पन्न कर रखा है; मृधे—युद्ध में; शयीरन्—भूमि में मृत होकर गिरे हुए; न—नहीं; तु—लेकिन; तत्—श्रीभगवान् का धाम; व्रजन्ति—पहुँचते हैं; यत्—जो; न्यस्त-दण्डः—संन्यासी; गत-वैरः—जिसका विश्व भर में किसी से वैर-भाव नहीं है; अभियाति—उस सिद्धि को प्राप्त करता है।

ऐसे अनेक राजनैतिक तथा सामाजिक वीर पुरुष हैं और थे जिन्होंने सम-शक्ति वाले शत्रुओं पर विजय प्राप्त की है, तो भी वे अज्ञानवश यह विश्वास करके कि यह भूमि उनकी है परस्पर लड़ते हैं और युद्धभूमि में अपने प्राण गँवाते हैं। वे संन्यासियों के द्वारा स्वीकृत आध्यात्मिक पथ को ग्रहण कर सकने में अक्षम रहते हैं। वीर पुरुष तथा राजनैतिक नेता होते हुए भी वे आत्म-साक्षात्कार का पथ नहीं अपना सकते हैं।

तात्पर्य : बड़े-बड़े राजनीतिक नेता भले ही अपने समान शक्तिशाली राजनीतिक शत्रुओं को परास्त कर दें, किन्तु वे अहर्निश साथ रहने वाले प्रबल इन्द्रिय-रूपी शत्रुओं का दमन नहीं कर पाते। इन निकटस्थ शत्रुओं को न जीत सकने के कारण ही वे अन्य शत्रुओं को जीतने का प्रयास करते रहते हैं और अन्ततः जीवन-संघर्ष में मर जाते हैं। वे न तो आत्म-साक्षात्कार का पथ ग्रहण करते हैं और न संन्यासी ही बनते हैं। कभी-कभी ये महान् नेता संन्यासी का वेश धारण करके अपने आपको महात्मा कहलवाने लगते हैं, किन्तु उनका एकमात्र प्रयोजन अपने राजनीतिक शत्रुओं को परास्त करना रहता है। चूँकि वे अपने जीवन को “यह मेरा है” के मोह से भ्रष्ट कर चुके होते हैं, अतः न उनकी आत्म-

उन्नति हो पाती है और न वे माया के चंगुल से मुक्त हो पाते हैं।

प्रसज्जति क्वापि लताभुजाश्रय-

स्तदाश्रयाव्यक्तपदद्विजस्पृहः ।

क्वचित्कदाचिद्धरिचक्रतस्त्रसन्

सख्यं विधत्ते बककङ्कगृधैः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

प्रसज्जति—अधिकाधिक आसक्त होता है; क्वापि—कभी-कभी; लता-भुज-आश्रयः—जो पत्नी की लताओं जैसी कोमल बाहों में आश्रय लेते हैं; तत्-आश्रय—जो ऐसी लताओं द्वारा आश्रय प्रदान किये जाते हैं; अव्यक्त-पद—जो अस्पष्ट पद ( गीत ) गाते हैं; द्विज-स्पृहः—पक्षियों का गाना सुनने का इच्छुक; क्वचित्—कभी-कभी; कदाचित्—कहीं; हरि-चक्रतः त्रसन्—सिंह की दहाड़ से भयभीत; सख्यम्—मित्रता; विधत्ते—करता है; बक-कङ्क-गृधैः—बगुलों, सारसों तथा गीधों के साथ।

कभी-कभी जीवात्मा संसार रूपी जंगल में लताओं का आश्रय लेता है और उन लताओं में बैठे पक्षियों की चहचहाहट सुनना चाहता है। जंगल के सिंहों की दहाड़ से भयभीत होकर वह बगुलों, सारसों तथा गृधों से मैत्री स्थापित करता है।

तात्पर्य : इस संसार रूपी जंगल में अनेक प्रकार के पशु, पक्षी, वृक्ष तथा लताएँ होती हैं। कभी-कभी जीवात्मा लताओं का आश्रय लेना चाहता है, अर्थात् वह लताओं के समान भुजाओं वाली अपनी स्त्री का आलिंगन करके सुखी रहना चाहता है। इन लताओं में चहकने वाले अनेक पक्षी रहते हैं—इससे यह सूचित होता है कि वह अपनी पत्नी की मधुरवाणी सुनकर सन्तुष्ट होना चाहता है। किन्तु वृद्धावस्था में वह कभी कभी सन्निकट-मृत्यु से भयभीत हो उठता है, जिसकी तुलना दहाड़ते सिंह से की गई है। सिंह के आक्रमण से बचने के लिए वह किन्हीं धूर्त स्वामियों, योगियों, अवतारों, वंचकों की शरण में जाता है। इस प्रकार माया के द्वारा पथभ्रष्ट होकर वह अपना जीवन विनष्ट कर लेता है। कहा गया है—*हरिं विना मृतिं न तरन्ति*—श्रीभगवान् की शरण लिए बिना कोई भी मृत्यु के आसन्न भय से बच नहीं सकता। यहाँ *हरि* शब्द से सिंह तथा श्रीभगवान् दोनों का बोध होता है। *हरि* अर्थात् मृत्यु रूपी सिंह से बचने के लिए *हरि* (ईश्वर) की शरण लेनी होती है। किन्तु अल्पज्ञानी लोग मृत्यु के चंगुल से बचने के लिए अभक्त वंचकों की शरण में जाते हैं। इस संसार रूपी जंगल में जीवात्मा सबसे पहले अपनी पत्नी की भुजवल्लरियों की शरण में जाकर उसकी मधुरवाणी सुनना चाहता है। बाद में वह कभी कभी तथाकथित गुरुओं तथा साधुओं की शरण ग्रहण करता है जो बगुलों, सारसों तथा गीधों के समान हैं। इस प्रकार परमेश्वर की शरण में न जाने से वह दोनों ओर ठगा जाता है।

तैर्वञ्चितो हंसकुलं समाविश-

न्नरोचयन्शीलमुपैति वानरान् ।

तज्जातिरासेन सुनिर्वृतेन्द्रियः

परस्परोद्धीक्षणविस्मृतावधिः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तैः—उनके द्वारा ( बंचकों, तथाकथित योगियों, स्वामियों, अवतारों तथा गुरुओं द्वारा ); वञ्चितः—ठगा जाकर; हंस-कुलम्—परमहंसों या भक्तों की संगति; समाविशन्—सम्पर्क करके; अरोचयन्—संतुष्ट न रहकर; शीलम्—शील, आचार; उपैति—पास जाता है; वानरान्—बंदरों को, जो दुश्चरित्र कामी पुरुष तुल्य हैं; तत्-जाति-रासेन—ऐसे कामी पुरुषों के संग में विषय-तृप्ति द्वारा; सुनिर्वृत-इन्द्रियः—इन्द्रिय-सुख प्राप्त होने से अत्यधिक संतुष्ट; परस्पर उद्धीक्षण—एक दूसरे का मुख देख-देख कर; विस्मृत—भूला हुआ; अवधिः—जीवन का अन्त ।

संसार रूपी जंगल में तथाकथित योगियों, स्वामियों तथा अवतारों से ठगा जाकर जीवात्मा उनकी संगति छोड़कर असली भक्तों की संगति में आने का प्रयत्न करता है, किन्तु दुर्भाग्यवश वह सद्गुरु या परम भक्त के उपदेशों का पालन नहीं कर पाता, अतः वह उनकी संगति छोड़कर पुनः बन्दरों की संगति में वापस आ जाता है जो मात्र इन्द्रिय-तृप्ति तथा स्त्रियों में रुचि रखते हैं। वह इन विषयीजनों की संगति में रहकर तथा काम और मद्यपान में लगा रहकर तुष्ट हो लेता है। इस तरह वह काम और मद्यसेवन से अपना जीवन नष्ट कर देता है। वह अन्य विषयीजनों के मुखों को देख-देख कर भूला रहता है और मृत्यु निकट आ जाती है।

तात्पर्य : कभी-कभी मूढ़ व्यक्ति कुसंगति से ऊब कर भक्तों तथा ब्राह्मणों की संगति में आता है और गुरु से दीक्षा लेता है। वह गुरु के बताये विधि-विधानों का पालन करने का यत्न करता है, किन्तु दुर्भाग्यवश उनका पालन नहीं कर पाता। फलतः वह भक्तों का संग छोड़कर उन दुमकटे लोगों (बन्दरों) का साथ करता है जो संभोग तथा मद्यपान में ही रुचि रखते हैं। जो तथाकथित आत्मवादी हैं, उनकी तुलना बंदरों से की गई है। बाहर से बन्दर साधुओं से मिलते-जुलते हैं, क्योंकि वे जंगलों में नंगे रहते और फल खाते हैं, किन्तु उनकी एकमात्र आकांक्षा होती है अनेक पत्नियाँ बनाकर विषयी जीवन बिताना। कभी-कभी तथाकथित अध्यात्मवादी आध्यात्मिक जीवन की खोज के बहाने कृष्णभावनाभावित भक्तों का साथ करना चाहते हैं, किन्तु वे न तो विधि-विधानों का पालन कर पाते हैं, न आध्यात्मिक जीवन के पथ का ही अनुसरण करते हैं। फलतः वे भक्तों का साथ छोड़कर विषयी पुरुषों का साथ करते हैं, जिनकी तुलना बन्दरों से की गई है। वे पुनः विषय-भोग तथा मद्यपान चालू

कर देते हैं और एक दूसरे के मुख को देखते हुए सन्तुष्ट (प्रसन्न) रहते हैं। इस प्रकार से वे मृत्यु आने तक अपना जीवन यों ही बिताते रहते हैं।

द्रुमेषु रंस्यन्सुतदारवत्सलो  
 व्यवायदीनो विवशः स्वबन्धने ।  
 क्वचित्प्रमादादिगिरिकन्दरे पतन्  
 वल्लीं गृहीत्वा गजभीत आस्थितः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

द्रुमेषु—वृक्षों में ( अथवा वृक्षवत् घरों में जिनमें बन्दर एक डाली से दूसरी डाली पर कूदते रहते हैं ); रंस्यन्—भोगता हुआ; सुत-दार-वत्सलः—बच्चों तथा पत्नी के प्रति अनुरक्त; व्यवाय-दीनः—विषय भोग के कारण दुर्बल हृदय वाला; विवशः—त्यागने में अक्षम; स्व-बन्धने—कर्मफल के बन्धन में; क्वचित्—कभी-कभी; प्रमादात्—आसन्न मृत्यु के भय से; गिरि-कन्दरे—पर्वत की गुफा में; पतन्—गिरकर; वल्लीम्—लताओं की शाखाएँ; गृहीत्वा—पकड़कर; गज-भीतः—मृत्यु रूपी हाथी से भयभीत; आस्थितः—उस स्थिति में रहा जाता है।

जब जीवात्मा एक शाखा से दूसरी शाखा पर कूदने वाले बन्दर के सदृश बन जाता है, तो गृहस्थ जीवन के वृक्ष में मात्र विषय सुख ( संभोग ) के लिए रहता है। इस प्रकार वह अपनी पत्नी से वैसे ही पाद-प्रहार पाता है जैसे कि गधा गधी से। मुक्ति का साधन न पाने के कारण वह असहाय बनकर उसी अवस्था में रहता है। कभी-कभी उसे असाध्य रोग हो जाता है जो पर्वत की गुफा में गिरने जैसा है। वह इस गुफा के पीछे रहने वाले मृत्यु रूपी हाथी से भयभीत हो उठता है और लताओं की टहनियाँ पकड़े रहकर लटका रहता है।

तात्पर्य : यहाँ पर गृहस्थ के जीवन की भयावह स्थिति का वर्णन है। गृहस्थ का जीवन कष्टों से परिपूर्ण है और उसका एकमात्र आकर्षण अपनी पत्नी से संभोग रहता है जो उस रति-क्रीड़ा के समय गधी के समान पाद-प्रहार करती है। निरन्तर विषयी जीवन बिताने से उसे अनेक असाध्य रोग हो जाते हैं। उस समय, हाथी रूपी मृत्यु से भयभीत होकर वह वृक्षों की शाखाएँ पकड़ कर बन्दर के समान लटका रहता है।

अतः कथञ्चित्स विमुक्त आपदः  
 पुनश्च सार्थं प्रविशत्यरिन्दम ।  
 अध्वन्यमुष्मिन्नजया निवेशितो  
 भ्रमञ्जनोऽद्यापि न वेद कश्चन ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अतः—इससे; कथञ्चित्—कुछ भी; सः—वह; विमुक्तः—मुक्त; आपदः—विपत्ति से; पुनः च—फिर से; स-अर्थम्—जीवन में रुचि लेता हुआ; प्रविशति—प्रवेश करता है, प्रारम्भ करता है; अरिम्-दम—शत्रुओं के हंता, हे राजन्; अध्वनि—भोग-पथ पर; अमुष्मिन्—उस; अजया—माया के प्रभाव से; निवेशितः—डूबा हुआ; भ्रमन्—घूमते हुए; जनः—बद्धजीव; अद्य अपि—मृत्यु तक; न वेद—नहीं जानता; कश्चन—कुछ भी।

हे शत्रुओं के संहारक, महाराज रहूगण, यदि बद्धजीव किसी प्रकार से इस भयानक स्थिति से उबर आता है, तो वह पुनः विषयी जीवन बिताने के लिए अपने घर को लौट जाता है, क्योंकि वही आसक्ति का मार्ग है। इस प्रकार ईश्वर की माया से वशीभूत वह संसार रूपी जंगल में घूमता रहता है। मृत्यु के निकट पहुँच कर भी उसे अपने वास्तविक हित का पता नहीं चल पाता।

तात्पर्य : यही सांसारिक जीवन की रीति है। जब कोई विषयों के प्रति आकृष्ट होता है, तो वह अनेक प्रकार से बँध जाता है और अपने जीवन का सही लक्ष्य नहीं समझ पाता। अतः श्रीमद्भागवत का (७.५.३१) कथन है—*न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*—सामान्यतः लोग जीवन के चरम उद्देश्य को नहीं समझ पाते। जैसाकि वेदों में कहा गया है—*ॐ तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः*— जो आत्मज्ञानी हैं, वे केवल विष्णु के चरणकमलों को देखते हैं। किन्तु बद्धजीव विष्णु के साथ अपने सम्बन्ध को पुनःस्थापित करने में कोई रुचि न रखकर भौतिक विषयों में फँस जाता है और तथाकथित नेताओं द्वारा पथभ्रष्ट होकर अखण्ड बन्धन में रहता है।

रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य

सत्र्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः ।

असज्जितात्मा हरिसेवया शितं

ज्ञानासिमादाय तरातिपारम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

रहूगण—हे राजा रहूगण; त्वम्—तुम; अपि—भी; हि—निश्चय ही; अध्वनः—संसार पथ का; अस्य—इस; सत्र्यस्त-दण्डः—अपराधियों को दण्ड देने वाले राज-दण्ड को त्याग कर; कृत-भूत-मैत्रः—प्रत्येक प्राणी के मित्र बन कर; असत्-जित-आत्मा—जिसका मन जीवन के भौतिक सुख के प्रति आकृष्ट नहीं होता; हरि-सेवया—परमेश्वर की प्रेममय सेवा के द्वारा; शितम्—पैनी; ज्ञान-असिम्—ज्ञान की तलवार; आदाय—हाथ में लेकर; तर—पार करो; अति-पारम्—उस अन्तिम छोर को (दूसरे पार)।

हे राजा रहूगण, तुम भी भौतिक सुख के प्रति आकर्षण-मार्ग में स्थित होकर माया के शिकार हो। मैं तुम्हें राज पद तथा उस दण्ड का जिससे अपराधियों को दण्डित करते हो परित्याग करने की सलाह देता हूँ जिससे तुम समस्त जीवात्माओं के सुहृद ( मित्र ) बन सको। विषयभोगों को त्याग कर अपने हाथ में भक्ति के द्वारा धार लगायी गयी ज्ञान की तलवार को धारण करो।

तब तुम माया की कठिन ग्रंथि को काट सकोगे और अज्ञानता के सागर को पार करके दूसरे छोर पर जा सकोगे।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१५.३-४) में भगवान् कृष्ण ने इस संसार की तुलना मोह के वृक्ष से की है, जिससे प्रत्येक प्राणी को छूटना है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्नाता न निवर्तन्ति भूयः ।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥

“इस वृक्ष का असली रूप इस संसार में नहीं देखा जा सकता। इसके आदि, अन्त अथवा मूलाधार को कोई नहीं जान सकता। किन्तु इस संसार-वृक्ष को दृढ़ निश्चय के साथ वैराग्य रूपी शस्त्र से काट कर फिर उस परमपद को खोजना चाहिए जिसे प्राप्त करके इस संसार में फिर वापस नहीं आना पड़ता। इसके लिए उन्हीं आदि पुरुष पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के शरणागत हुआ जाये जिनसे अनादिकाल से प्रत्येक वस्तु का सूत्रपात तथा विस्तार होता आया है।”

राजोवाच

अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं

किं जन्मभिस्त्वपरैरप्यमुष्मिन् ।

न यद्धृषीकेशयशःकृतात्मनां

महात्मनां वः प्रचुरः समागमः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राज रहूँगा ने कहा; अहो—ओह; नृ-जन्म—मनुष्य का जन्म लेने वाले तुम; अखिल-जन्म-शोभनम्—सर्व योनियों में श्रेष्ठ; किम्—क्या आवश्यकता; जन्मभिः—स्वर्ग लोकों के देवता जैसी उच्चयोनि में जन्म लेने से; तु—लेकिन; अपरैः—अन्यान्य, निकृष्ट; अपि—निस्संदेह; अमुष्मिन्—अगले जन्म में; न—नहीं; यत्—जो; हृषीकेश-यशः—समस्त इन्द्रियों के स्वामी श्रीभगवान् हृषीकेश के पवित्र यश से; कृत-आत्मनाम्—जिनके हृदय विमल हैं, शुद्ध अन्तःकरण वाले; महा-आत्मनाम्—महात्माओं की; वः—हम सबकी; प्रचुरः—अत्यधिक; समागमः—संगति।

राज रहूँगा ने कहा—यह मनुष्य जन्म समस्त योनियों में श्रेष्ठ है। यहाँ तक कि स्वर्ग में देवताओं के बीच जन्म लेना उतना यशपूर्ण नहीं जितना कि इस पृथ्वी पर मनुष्य के रूप में जन्म लेना। तो फिर देवता जैसे उच्च पद का क्या लाभ? स्वर्गलोक में अथाह भोग-सामग्री के कारण देवताओं को भक्तों की संगति का अवसर ही नहीं मिलता।

**तात्पर्य :** आत्म-साक्षात्कार के लिए मनुष्य जन्म एक महान् सुअवसर होता है। चाहे कोई स्वर्गलोक में देवताओं के बीच जन्म क्यों न ले, किन्तु भौतिक सुविधाओं की प्रचुरता के कारण उसे भव-बन्धन से छुटकारा नहीं मिल पाता। इस पृथ्वी पर भी जो ऐश्वर्यवान हैं, वे कृष्ण-भक्ति की कोई परवाह नहीं करते। जो बुद्धिमान पुरुष वास्तव में भौतिकता के चंगुल से छूटना चाहता है उसे चाहिए कि वह शुद्ध भक्तों की संगति करे। इस संगति से वह क्रमशः धन तथा स्त्री के आकर्षण से विरक्त होता जाएगा। भौतिकता के मूलभूत तत्त्व धन तथा स्त्रियाँ हैं। अतः श्री चैतन्य महाप्रभु ने यह उपदेश दिया है कि जो श्रीभगवान् के धाम को वापस जाना चाहते हैं उन्हें धन तथा स्त्री का परित्याग कर देना चाहिए जिससे वे ईश्वर के साम्राज्य में प्रवेश करने के योग्य बन सकें। धन तथा स्त्रियों का पूर्ण उपभोग ईश्वर की सेवा में किया जा सकता है और जो ऐसा कर सकता है, वह भव-बन्धन से मुक्त हो सकता है।

*सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः* (भागवत ३.२५.२५)। भक्तों की संगति में रह कर ही श्रीभगवान् के यश का आस्वादन सम्भव है। विशुद्ध भक्त की किञ्चित् संगति से मनुष्य श्रीभगवान् के धाम जाने में सफल हो सकता है।

न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभि-

हृतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला ।

मौहूर्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे

दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; अद्भुतम्—अद्भुत; त्वत्-चरण-अब्ज-रेणुभिः—आपके चरणकमलों की धूलि से; हत-अंहसः—पाप के फल से मुक्त मैं; भक्तिः—प्रेम तथा भक्ति; अधोक्षजे—श्रीभगवान् में, जो व्यवहार-ज्ञान की पकड़ से परे है; अमला—सांसारिक कल्मषों से रहित, विमल; मौहूर्तिकात्—क्षणिक; यस्य—जिसके; समागमात्—आगमन तथा संगति से; च—भी; मे—मेरा; दुस्तर्क—झूठ तर्कों का, कुतर्कों का; मूलः—मूल, मूलकारण; अपहतः—पूर्णतया विनष्ट हो गया; अविवेकः—अज्ञान।

यह कोई विचित्र बात नहीं है कि केवल आपके चरण-कमलों की धूलि से धूसरित होने से मनुष्य तुरन्त विशुद्ध भक्ति के अधोक्षज पद को प्राप्त होता है जो ब्रह्मा जैसे महान् देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। आपके क्षणमात्र के समागम से अब मैं समस्त तर्कों, अहंकार तथा अविवेक से मुक्त हो गया हूँ जो इस भौतिक जगत में बंधन के मूल कारण हैं। मैं अब इन समस्त झंझटों से मुक्त हूँ।

**तात्पर्य :** शुद्ध भक्तों के समागम से भौतिक बंधनों से मुक्ति निश्चित है। यह जड़ भरत की संगति से राजा रहूगण के प्रसंग में पूर्णतः सत्य है। राजा रहूगण तुरन्त ही भौतिक संगति के दुष्परिणामों से मुक्त हो गये। शुद्ध भक्तों द्वारा अपने शिष्यों को दिये तर्क इतने विश्वसनीय होते हैं कि मूढ़ से मूढ़ शिष्य भी तुरन्त आध्यात्मिक ज्ञान का आलोक प्राप्त कर सकता है।

नमो महद्भ्योऽस्तु नमः शिशुभ्यो

नमो युवभ्यो नम आवटुभ्यः ।

ये ब्राह्मणा गामवधूतलिङ्गा-

श्चरन्ति तेभ्यः शिवमस्तु राज्ञाम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार है; महद्भ्यः—महापुरुषों को; अस्तु—हो; नमः—मेरा नमस्कार; शिशुभ्यः—जो महापुरुष शिशु रूप में हो, उनको; नमः—सादर नमस्कार; युवभ्यः—जो युवा ( तरुण ) हों, उन्हें; नमः—सादर नमस्कार; आ-वटुभ्यः—जो बालक के रूप में हों उन्हें; ये—जो सब; ब्राह्मणाः—दिव्य ज्ञान में सिद्ध; गाम्—पृथ्वी; अवधूत-लिङ्गाः—विभिन्न शारीरिक वेषों में छिपे रहने वाले; चरन्ति—घूमते रहते हैं; तेभ्यः—उनसे; शिवम् अस्तु—कल्याण हो; राज्ञाम्—राजाओं को ( जो सदैव गर्वित रहते हैं )।

मैं उन महापुरुषों को नमस्कार करता हूँ जो इस धरातल पर शिशु, तरुण बालक, अवधूत या महान् ब्राह्मण के रूप में विचरण करते हैं। यदि वे विभिन्न वेशों में छिपे हुए हैं, तो भी मैं उन सबको नमस्कार करता हूँ। उनके अनुग्रह से उनका अपमान करने वाले राजवंशों का कल्याण हो।

**तात्पर्य :** राजा रहूगण को अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ, क्योंकि उसने जड़ भरत को अपनी पालकी ढोने के लिए बाध्य किया था। अतः उसने समस्त प्रकार के ब्राह्मणों तथा स्वरूपसिद्ध पुरुषों की वन्दना करनी प्रारम्भ की, चाहे वे शिशु रूप में खेल रहे हों या किसी भी वेश में छिपे हुए हों। चारों कुमार पाँचवर्षीय बालकों के रूप में सर्वत्र घूमते थे। इसी प्रकार अनेक ब्राह्मण बच्चे, तरुण या अवधूत रूप में विश्व का परिभ्रमण करते रहते हैं। सामान्यतः राजा लोग अहंकारवश इन महापुरुषों को अपमानित करते रहते हैं, अतः राजा रहूगण ने उनको ही सादर नमस्कार किया है, जिससे अहंकारी राजवंश नरक को न प्राप्त हो। यदि कोई महापुरुष का अपमान करता है, तो श्रीभगवान् उसे क्षमा नहीं करते, भले ही उन महापुरुषों को यह अपमान जैसा न लगता हो। दुर्वासा ने महाराज अम्बरीष का अपमान किया था, अतः जब वे भगवान् विष्णु के पास क्षमा के लिए पहुँचे तो उन्होंने क्षमा प्रदान नहीं की—उन्हें महाराज



अम्बरीष के चरणों पर गिरना पड़ा, यद्यपि वे क्षत्रिय गृहस्थ थे। मनुष्य को चाहिए कि वह वैष्णव तथा ब्राह्मण के चरणकमलों का अपमान न करे।

श्रीशुक उवाच

इत्येवमुत्तरामातः स वै ब्रह्मर्षिसुतः सिन्धुपतय आत्मसतत्त्वं विगणयतः परानुभावः  
परमकारुणिकतयोपदिश्य रहूगणेन सकरुणमभिवन्दितचरण आपूर्णार्णव इव निभृतकरणोर्म्याशयो  
धरणिमिमां विचचार. ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति एवम्—इस प्रकार; उत्तरा-मातः—हे माता उत्तरा के पुत्र, महाराज परीक्षित; सः—वह ब्राह्मण; वै—निस्संदेह; ब्रह्म-ऋषि-सुतः—अत्यन्त शिक्षित ब्राह्मण का पुत्र, जड़ भरत; सिन्धु-पतये—सिंधु राज्य के राजा को; आत्म-स-तत्त्वम्—आत्मा की वास्तविक स्वाभाविक स्थिति; विगणयतः—जड़ भरत का अपमान करने पर भी; पर-अनुभावः—परम आत्मज्ञानी; परम-कारुणिकतया—पतित-आत्माओं के प्रति अत्यन्त दयालु होने के कारण; उपदिश्य—उपदेश देकर; रहूगणेन—राजा रहूगण के द्वारा; स-करुणम्—दीनभाव से; अभिवन्दित-चरणः—जिसके चरणकमलों की वन्दना की गई; आपूर्ण-अर्णवः इव—परिपूर्ण सागर के समान; निभृत—पूर्णतया शान्त; करण—इन्द्रियों की; ऊर्मि—लहरें; आशयः—अन्तःकरण में; धरणिम्—पृथ्वी पर; इमाम्—इस; विचचार—घूमने लगे।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा, हे राजन्, हे उत्तरा-पुत्र, राजा रहूगण द्वारा अपनी पालकी ढोये जाने के लिए बाध्य किये जाने से अपमानित होकर जड़ भरत के मन में असंतोष की कुछकुछ लहरें थीं, किन्तु उन्होंने इनकी उपेक्षा की और उनका हृदय पुनः सागर के समान शान्त हो गया। यद्यपि राजा रहूगण ने उनका अपमान किया, किन्तु वे महान् परमहंस थे। वैष्णव होने के नाते वे परम दयालु थे, अतः उन्होंने राजा को आत्मा की वास्तविक स्वाभाविक स्थिति बतलाई। तब उन्हें अपमान भूल गया, क्योंकि राजा रहूगण ने विनीत भाव से उनके चरणकमलों पर क्षमा माँग ली थी। इसके बाद वे पुनः पूर्ववत् सारे विश्व का भ्रमण करने लगे।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत (३.२५.२१) में कपिलदेव ने महापुरुषों के लक्षण बतलाये हैं—*तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्*। साधु भक्त अन्यन्त सहिष्णु होता है। वह सभी जीवों का मित्र होता है और संसार में वैर नहीं पालता। शुद्ध भक्त में साधु के समस्त गुण पाये जाते हैं। जड़ भरत इसके उदाहरण हैं। भौतिक शरीर होने से जब राजा रहूगण द्वारा उनका अपमान हुआ तो वे विक्षुब्ध अवश्य हुए थे, किन्तु बाद में राजा के अनुनय-विनय से जड़ भरत ने उसे क्षमा कर दिया। जो कोई भी श्रीभगवान् के धाम को वापस जाना चाहता है उसका परम कर्तव्य है कि वह राजा रहूगण के समान विनीत हो और जिस वैष्णव का अपमान किया हो उससे क्षमा माँगे। वैष्णव सामान्य रूप से परम

दयालु होते हैं, अतः जब कोई उनके चरणों में तुरन्त समर्पण कर देता है, तो वे उनके पापकर्म के फल को क्षमा कर देते हैं। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो पापकर्म के फल बने रहते हैं और फल अच्छा नहीं निकलता।

सौवीरपतिरपि सुजनसमवगतपरमात्मसतत्त्व आत्मन्यविद्याध्यारोपितां च देहात्ममतिं विससर्ज; एवं हि नृप भगवदाश्रिताश्रितानुभावः. ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सौवीर-पति:—सौवीर राज्य का राजा; अपि—निश्चय ही; सु-जन—महापुरुष से; समवगत—भली-भाँति अवगत होकर, जानकर; परमात्म-स-तत्त्व:—आत्मा तथा परमात्मा की स्वाभाविक स्थिति की सत्यता; आत्मनि—अपने आप में; अविद्या—अज्ञान से; अध्यारोपिताम्—भूल से आरोपित; च—तथा; देह—शरीर में; आत्म-मतिम्—स्व-बोध; विससर्ज—पूर्णतया त्याग दिया; एवम्—इस प्रकार; हि—निश्चय ही; नृप—हे राजन्; भगवत्-आश्रित-आश्रित-अनुभावः—परम्परानुसार सदगुरु की शरण में आये हुए भक्त की शरण में ( जो निश्चित रूप से अविद्या रूपी देहात्म-बुद्धि को निकाल पाने में समर्थ है )।

परम भक्त जड़ भरत से उपदेश ग्रहण करने के पश्चात् सौवीर का राजा रहूगण आत्मा की स्वाभाविक स्थिति से पूर्णतया परिचित हो गया। उसने देहात्मबुद्धि का सर्वशः परित्याग कर दिया। हे राजन्, जो भी ईश्वर के भक्त के दास की शरण ग्रहण करता है, वह धन्य है, क्योंकि वह बिना कठिनाई के देहात्मबुद्धि त्याग सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि चैतन्य चरितामृत (मध्य २२.५४) में कहा गया है—

“साधु संग, ” “साधु संग” —सर्वशास्त्रे कथ ।

लवमात्र साधु-संगे सर्व-सिद्धि हय ॥

यह सच है कि चाहे क्षण भर की ही संगति क्यों न हो, यदि कोई शुद्ध भक्त की शरण में जाता है, तो उसे पूर्ण सिद्धि प्राप्त होती है। साधु भगवान् का शुद्ध भक्त होता है। यह हमारा स्वयं का अनुभव है कि हम गुरु के प्रथम उपदेश से ही कृष्णभावनामृत से अभिभूत हो उठे जिससे आज हम कृष्णभावनामृत के पथ पर हैं और कृष्ण-दर्शन को समझ सकते हैं। परिणाम यह हुआ कि आज अनेक भक्त कृष्णभावनामृत आन्दोलन में संलग्न हैं। यह समूचा संसार देहात्मबुद्धि के वशीभूत होकर चक्कर लगा रहा है। इसलिए संसार भर में लोगों को ज्ञान प्रदान करने और कृष्णभक्ति में लगाने के लिए भक्तों पूरी तरह से जुट जाना चाहिए।

राजोवाच

यो ह वा इह बहुविदा महाभागवत त्वयाभिहितः परोक्षेण वचसा जीवलोकभवाध्वा स ह्यार्यमनीषया कल्पितविषयो नाञ्जसाव्युत्पन्नलोकसमधिगमः; अथ तदेवैतदुरवगमं समवेतानुकल्पेन निर्दिश्यतामिति ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा परीक्षित ने कहा; यः—जो; ह—निश्चय ही; वा—अथवा; इह—इस वर्णन में; बहु-विदा—दिव्य ज्ञान की अनेक घटनाओं को जानने वाले; महा-भागवत—हे परम भक्त साधु; त्वया—आपके द्वारा; अभिहितः—वर्णित; परोक्षेण—अलंकारिक रीति से; वचसा—शब्दों से; जीव-लोक-भव-अध्वा—बद्धजीव का संसार रूप मार्ग; सः—वह; हि—निस्संदेह; आर्य-मनीषया—सिद्ध भक्तों की बुद्धि से; कल्पित-विषयः—कल्पना किया गया विषय; न—नहीं; अञ्जसा—प्रत्यक्ष; अव्युत्पन्न-लोक—अल्प बुद्धि वाले पुरुष; समधिगमः—पूर्ण ज्ञान; अथ—अतः; तत् एव—उसके कारण; एतत्—यह विषय; दुरवगमम्—दुर्बोध, समझने में कठिन; समवेत-अनुकल्पेन—ऐसी घटनाओं ( रूपक ) का स्पष्टीकरण करने वाले; निर्दिश्यताम्—वर्णन करें; इति—इस प्रकार।

तब राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से कहा—हे स्वामी, हे परम भक्त साधु, आप सर्वज्ञाता हैं। आपने जंगल के वणिक के रूप में बद्धजीव की स्थिति का अत्यन्त मनोहर वर्णन किया है। इन उपदेशों से कोई भी बुद्धिमान मनुष्य समझ सकता है कि देहात्मबुद्धि वाले पुरुष की इन्द्रियाँ उस जंगल में चोर-उचक्यों सी हैं और उसकी पत्नी तथा बच्चे सियार तथा अन्य हिंस्र पशुओं के तुल्य हैं। किन्तु अल्पज्ञानियों के लिए इस आख्यान को समझ पाना सरल नहीं है क्योंकि इस रूपक का सही-सही अर्थ निकाल पाना कठिन है। अतः मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि इसका अर्थ स्पष्ट करके बताएँ।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत में ऐसे अनेक आख्यान तथा घटनाएँ हैं, जिनका वर्णन रूपक के माध्यम से किया गया है। ऐसे रूपकों का अर्थ अल्पज्ञों की समझ में नहीं आता, अतः ज्ञान-पिपासु छात्र का यह परम कर्तव्य है कि वह स्पष्ट व्याख्या के लिए प्रामाणिक गुरु के पास जाये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कंध के अन्तर्गत “राजा रहूगण तथा जड़ भरत के बीच और आगे वार्ता” नामक तेरहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।